भारतीय ज्ञान प्रणाली उद्गम और विकास

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

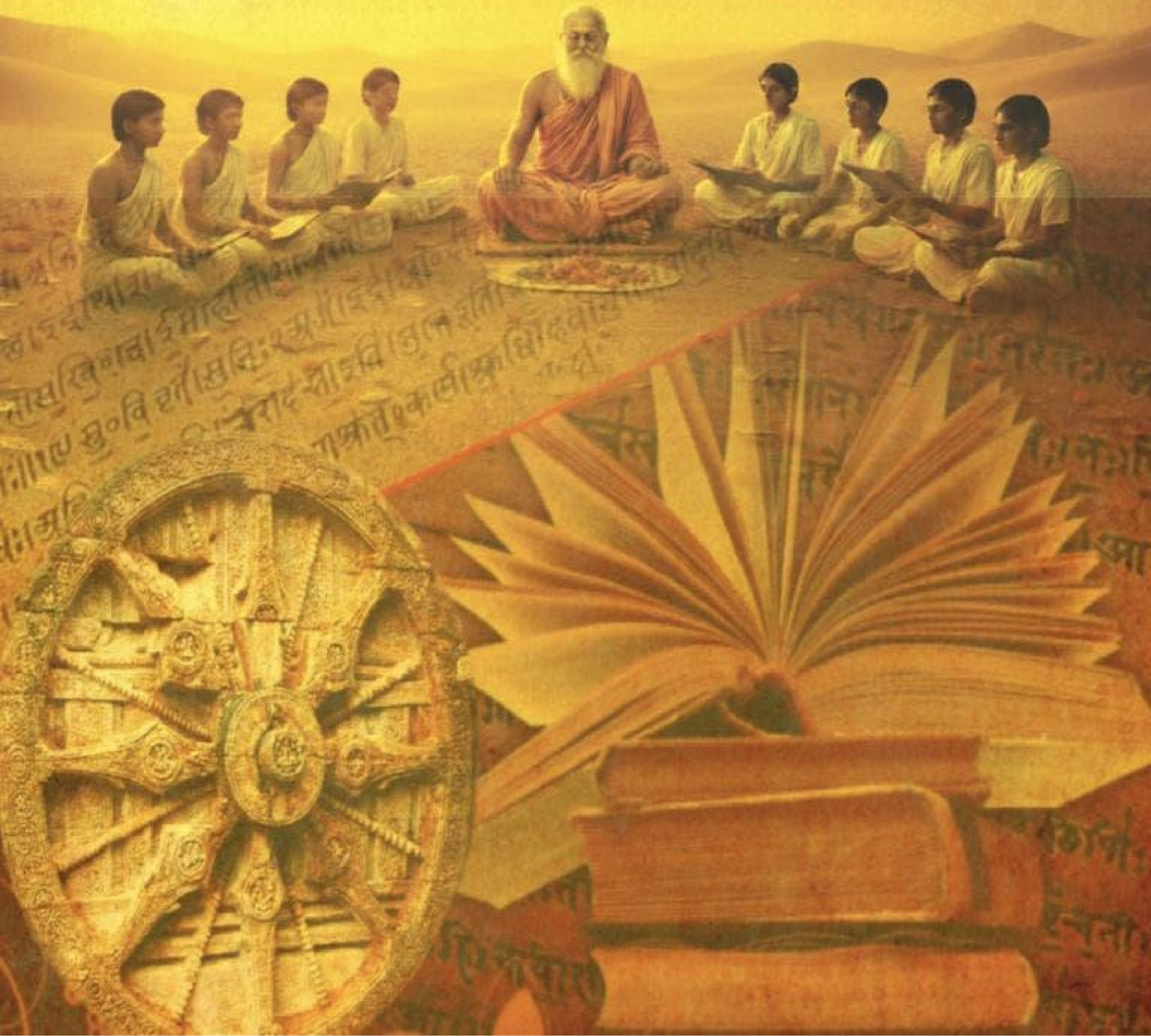

भारतीय ज्ञान प्रणाली
उद्गम और विकास

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
Books n Books
51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001
ई-मेल : bnbajmer@gmail.com
मो. 9660111549

संस्करण
प्रथम 2026

ISBN : 978-81-993854-1-2

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान प्रणाली-उद्गम और विकास

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

आवरण - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

2

भारतीय ज्ञान परम्परा में शासन एवं न्याय व्यवस्था

डॉ. मुकेश शर्मा
विभागाध्यक्ष (समाज विज्ञान विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय ज्ञान परंपरा में शासन और न्याय-व्यवस्था का उद्‌भव समाज की व्यावहारिक आवश्यकताओं से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। प्राचीन आर्य सभ्यता के संदर्भ में उपलब्ध विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि जब समाज में आंतरिक अव्यवस्था बढ़ने लगी तथा बाह्य आक्रमणों और युद्धजन्य परिस्थितियों से सुरक्षा की आवश्यकता उत्पन्न हुई, तब संगठित शासन-व्यवस्था के रूप में राजा के पद का विकास हुआ। राजा का मूल उद्देश्य केवल सत्ता का उपभोग नहीं था, बल्कि समाज में शांति, सुरक्षा और सुव्यवस्था की स्थापना करना था। इस कारण राजा के प्रमुख कर्तव्यों में अपनी शक्ति के माध्यम से प्रजा की रक्षा करना तथा राज्य में विधि और नियमों की स्थापना करना सम्मिलित था।

प्रजा की वास्तविक रक्षा तभी संभव मानी गई, जब राजा स्वयं राजकीय नियमों का पालन करे और उन्हें समाज में प्रभावी रूप से लागू कराए। इसके साथ ही यह भी आवश्यक समझा गया कि प्रजाजनों को निष्पक्ष और समुचित न्याय प्राप्त हो। इसी कारण शासन-व्यवस्था के साथ-साथ न्याय-व्यवस्था का विकास स्वाभाविक और अनिवार्य माना गया। प्रशासन और न्याय को अलग-अलग न मानकर, दोनों को परस्पर पूरक व्यवस्थाओं के रूप में देखा गया, जिनका उद्देश्य सामाजिक संतुलन और लोककल्याण था।

भारतवर्ष में न्याय-व्यवस्था की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। वैदिक संहिताओं के विवरण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि राजा केवल शासक ही नहीं था, बल्कि वह सर्वोच्च न्यायाधीश भी माना जाता था। प्रजा के कल्याण के लिए वह स्वयं भी धर्मसम्मत और कल्याणकारी कर्तव्यों का पालन करता था तथा समाज के अन्य सदस्यों से भी ऐसे ही आचरण की अपेक्षा करता था। न्याय को केवल दंड-व्यवस्था तक सीमित नहीं रखा गया, बल्कि उसे धर्म, सत्य और नैतिकता से जोड़ा गया।

ऋग्वेद के एक मंत्र में विवादों के निर्णय के लिए इन्द्र, जो सम्राट का प्रतीक हैं, का आवाहन किया गया है। इस मंत्र से यह संकेत मिलता है कि उस काल में राज्य में न्यायालयों जैसी संस्थाएँ विद्यमान थीं, जहाँ प्रजाजनों के विवाद और अभियोग प्रस्तुत किए जाते थे। इन विवादों का अंतिम निर्णय सम्राट द्वारा किया जाता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि न्यायिक प्रक्रिया संगठित रूप में अस्तित्व में थी और राजा स्वयं उसमें सक्रिय भूमिका निभाता था।

ऋग्वेद के ही एक अन्य मंत्र में इन्द्र के लिए 'धर्मकृत्' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इसका आशय यह है कि इन्द्र अर्थात् राजा धर्म या विधि-कानून का निर्माता, ज्ञाता और पालनकर्ता था तथा राष्ट्र में विविध प्रकार के सामाजिक और व्यवहारिक नियमों को संचालित करता था। इससे यह धारणा पुष्ट होती है कि प्राचीन भारत में राजा को विवादों के समाधान और न्याय प्रदान करने का प्रमुख उत्तरदायी माना जाता था।

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने अपने ग्रंथ *वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त* में सोम को न्यायाधीश के रूप में वर्णित किया है। वैदिक संहिताओं में सोम उस अधिकारी का नाम है, जिसे राजा न्याय विभाग के कार्यों के लिए अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त करता था। यह तथ्य दर्शाता है कि न्याय-व्यवस्था केवल राजा तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसमें विशिष्ट अधिकारियों की भी भूमिका थी, जो राजा की ओर से न्यायिक कार्य संपन्न करते थे।

इसी परंपरा में वरुण को पुलिस विभाग का मंत्री बताया गया है। वरुण को इन्द्र का सहायक माना गया है, जो अपने गणों के माध्यम से अपराधियों को पकड़ता था। उसके पाशों का प्रतीकात्मक अर्थ यह है कि अपराध करने वाले, विशेष रूप से असत्य और अन्याय का आचरण करने वाले, दंड के पात्र बनते थे, जबकि सत्यवादी और धर्मनिष्ठ व्यक्ति मुक्त रहते थे। इस धारणा के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया कि प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था का मूल आधार सत्य, धर्म और नैतिक अनुशासन था।

वैदिक मंत्रों तथा ब्राह्मण-उपनिषद् साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड की सुव्यवस्थित व्यवस्था विद्यमान थी। चोरी, हिंसा और अन्य जघन्य अपराधों को गंभीर अपराध माना जाता था और उन पर शारीरिक दण्ड दिए जाने के संकेत ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद (10.97.12) में प्रयुक्त 'मध्यमशी' शब्द से ज्ञात होता है कि अनेक विवाद पंचों या मध्यस्थों द्वारा सुलझाए जाते थे। यह व्यवस्था सरल थी और पृथक न्यायाधीशों के अभाव में राजा का आदेश ही अंतिम

और प्रभावी माना जाता था। अपराध सिद्ध होने पर राजा अपने विवेक और धर्मबुद्धि के अनुसार दण्ड देता था।

ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों में विधि-संबंधी नियमों का उल्लेख मिलता है, विशेष रूप से भूमि-स्वामित्व और उत्तराधिकार के विषय में। कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य का भूमि पर अधिकार माना गया था, इसलिए राजा को भूमि-दान का अधिकार नहीं था। ऐतरेय ब्राह्मण की कथा में यह स्पष्ट किया गया है कि भूमि लोक या प्रजा की संपत्ति है, राजा की निजी नहीं। संपत्ति के उत्तराधिकार के लिए 'दाय' और 'रिक्थ' जैसे पद प्रचलित थे।

ऐतरेय ब्राह्मण में अभियोग-निर्णय की प्रक्रिया का भी उल्लेख है, जहाँ गवाह को 'ज्ञातृ' और मध्यस्थ को 'मध्यमशी' कहा गया है। विवादों में संशय निवारण के लिए पंचों द्वारा प्रतिप्रश्न किए जाते थे।

ब्राह्मण-उपनिषद् साहित्य से ज्ञात होता है कि चोरी, डकैती, व्यभिचार, भ्रूणहत्या, नरहत्या और सुरापान जैसे कर्म अपराध माने जाते थे। ग्रामों में ग्रामणी निर्णय देते थे, किंतु दण्ड देने का अंतिम अधिकार राजा का ही था। साक्ष्य को महत्त्व दिया जाता था और दिव्य साक्ष्य का प्रयोग भी प्रचलित था। हल्के अपराधों में साधारण तथा जघन्य अपराधों में कठोर शारीरिक दण्ड का विधान था।

स्मृति-शास्त्रों में दण्ड-व्यवस्था का रूप वैदिक और ब्राह्मण साहित्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, व्यवस्थित तथा सुधारात्मक दिखाई देता है। इस काल में राजा का न्यायालय सर्वोच्च धर्मस्थान माना गया, जिसे *धर्माधिकरण* कहा जाता था। न्याय केवल दण्ड देने का साधन नहीं था, बल्कि धर्म की स्थापना और सामाजिक संतुलन का माध्यम समझा जाता था।

कात्यायन और शुक्र ने राजा को यह परामर्श दिया कि वह एकांगी निर्णय न करे, बल्कि नीतिविशारद मंत्रियों, न्यायाधीशों, विद्वान् ब्राह्मणों तथा पञ्चों के साथ विचार-विमर्श करके ही विवादों का निपटारा करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि न्याय-निर्णय सामूहिक बुद्धि और नैतिक विवेक पर आधारित थे। इसी क्रम में निगमों और श्रेणियों को भी विवादों के निर्णय में सम्मिलित किया गया। शुक्र के अनुसार श्रेणियाँ, कुल, गण तथा राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी क्रमशः न्याय करने के अधिकारी थे, जिससे न्याय-व्यवस्था विकेन्द्रित और व्यावहारिक बनी।

नारद ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि न्यायाधीशों द्वारा दिया गया निर्णय अंतिम होता था और स्वयं राजा भी उसके विरुद्ध नहीं जा सकता था। सभी शास्त्रों में सभासदों को निरासक्त, निर्भय और ईमानदारी से न्याय करने का उपदेश दिया

गया है। यह भी स्पष्ट किया गया कि कर्तव्यपालन में लगे न्यायाधीश दण्ड के भागी नहीं होते।

बृहस्पति के अनुसार राज्य में चार प्रकार के न्यायालय प्रचलित थे। प्रतिष्ठिता न्यायालय स्थायी होते थे और एक ही स्थान पर स्थित रहते थे। अप्रतिष्ठा न्यायालय भ्रमणशील होते थे, जो एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर जनता को न्याय प्रदान करते थे। मुद्रिता न्यायालय राजा द्वारा स्थापित होते थे और उन्हें राजचिह्नयुक्त मुद्रा के प्रयोग का अधिकार प्राप्त था। शासिता न्यायालयों में स्वयं राजा न्यायासन पर बैठकर न्याय करता था और इन्हें सर्वाधिक अधिकार प्राप्त थे।

स्मृति-शास्त्रों में विवादों की न्यायिक प्रक्रिया को अत्यंत व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है। विवाद के निपटारे की चार क्रमिक अवस्थाएँ मानी गई थीं—पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, क्रियापाद और निर्णय। वादी पहले अपना वाद प्रस्तुत करता था, जिसे न्यायाधीश समझकर यह तय करता था कि वाद विचारणीय है या नहीं। विचारणीय होने पर प्रतिवादी को सम्मन भेजा जाता था, अन्यथा अस्पष्ट, विधि-विरुद्ध या समाज-विरोधी वादपत्र को निरस्त कर दिया जाता था। सम्मन की अवहेलना गंभीर अपराध मानी जाती थी, यद्यपि विवाह, यज्ञ, रोग या आपत्ति जैसी विशेष परिस्थितियों में इससे छूट दी जाती थी।

सामान्यत: वादी और प्रतिवादी दोनों का न्यायालय में उपस्थित होना आवश्यक था, किंतु कुछ मामलों में प्रतिनिधि की अनुमति थी, जबकि गंभीर अपराधों में यह स्वीकार्य नहीं थी। वाद आरम्भ होने पर जमानत ली जाती थी और प्रतिवादी का उत्तर चार प्रकार का माना गया—सत्य, मिथ्या, प्रत्यवस्कन्दन और पूर्वन्यायविधि, जिनमें प्रमाण का दायित्व परिस्थिति के अनुसार वादी या प्रतिवादी पर रहता था।

प्रमाण दो प्रकार के माने गए—मानवीय और दैवी। मानवीय प्रमाणों में साक्षी, लिखित दस्तावेज और भुक्ति सम्मिलित थे, जबकि दैवी प्रमाणों में अग्नि, जल, विष, तुला और शपथ आदि आते थे। शास्त्रकारों के अनुसार दैवी प्रमाणों का प्रयोग तभी किया जाना चाहिए था, जब मानवीय प्रमाण उपलब्ध न हों। अंतत: निर्णय जयपत्र के रूप में दिया जाता था, जिस पर राजा या न्यायाधीश तथा सभासदों के हस्ताक्षर होते थे। इस प्रकार प्राचीन भारतीय न्याय-प्रक्रिया तर्क, प्रमाण और विधिसम्मत व्यवस्था पर आधारित थी।

प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था में वादों के विषय मुख्यत: उत्तराधिकार, दुर्वचन, आक्रमण, चोरी, स्त्रीधन और हिंसा आदि से संबंधित होते थे। उत्तराधिकार के क्षेत्र में स्मृतिशास्त्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देता है। प्रारम्भिक स्मृतियों के विपरीत

याज्ञवल्क्य और विष्णुस्मृति ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसकी संपत्ति का उत्तराधिकार उसकी विधवा को मिलेगा। कात्यायन और बृहस्पति ने भी इसी सिद्धांत का समर्थन किया। इसके पश्चात क्रमशः कुमारी कन्याओं, विवाहिता पुत्रियों, माता-पिता, भ्राता और भ्रातृपुत्रों को उत्तराधिकार प्राप्त होता था। स्त्रीधन से संबंधित विधि का व्यावहारिक ज्ञान भी इस काल में स्पष्ट रूप से स्थापित हो चुका था।

स्मृतियों के युग के बाद कौटिल्यकालीन भारत में न्याय-प्रणाली और अधिक परिष्कृत तथा व्यवस्थित हो गई। इस समय राज्य द्वारा न्यायाधिकरण स्थापित किए जाते थे और इनमें बैठकर विवादों का निर्णय करने वाले अधिकारी धर्मस्थ कहलाते थे। धर्मस्थ शब्द न्यायाधीश और न्यायालय—दोनों के लिए प्रयुक्त होता था। राज्य की ओर से विभिन्न स्तरों पर धर्मस्थ न्यायाधिकरण स्थापित किए जाते थे, जिनके सदस्य अमात्यों के समान योग्य माने जाते थे। इनके निरीक्षण में सामाजिक और कानूनी व्यवहार, जैसे इकरारनामे, लिखे और प्रमाणित किए जाते थे। गुप्त, कपटपूर्ण या एकांत में किए गए व्यवहार प्रामाणिक नहीं माने जाते थे।

न्यायाधिकरणों द्वारा प्रशासन-निर्धारित स्थानों पर दिए गए निर्णय ही मान्य होते थे। वादी और प्रतिवादी के लिए वाद प्रस्तुत करने तथा अभियोग का प्रतिकार करने के स्पष्ट नियम बनाए गए थे। अस्पष्ट अभियोग न्यायालय में स्वीकार नहीं किए जाते थे। विवाद प्रस्तुत करने को प्रोत्साहन देने की परंपरा नहीं थी, बल्कि अभियोक्ता पर कठोर पाबंदियाँ थीं। अभियुक्त के मृत होने, आपद्ग्रस्त होने या अनुपस्थित रहने की स्थिति में भी अभियोक्ता को अपने पक्ष में पूर्ण प्रमाण प्रस्तुत करने होते थे। प्रमाण प्रस्तुत न कर पाने पर अभियोक्ता को दण्डित किया जा सकता था और उसे सामाजिक उपयोग के कार्यों में लगाया जा सकता था। इस प्रकार कौटिल्यकालीन न्याय-व्यवस्था अनुशासन, प्रमाण और उत्तरदायित्व पर आधारित थी।

प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था में राजा का निर्णय अंतिम और सर्वमान्य माना जाता था। प्रत्येक न्यायाधिकरण की अंतिम अपील अथवा पुनर्विचार का अधिकार राजा के पास सुरक्षित रहता था। वह उच्चतम न्यायाधीश के रूप में अपीलों को गंभीरता और सावधानी से सुनता था।

कौटिल्य के युग में कानून सरल, स्पष्ट और व्यावहारिक थे। न्यायाधिकरणों का उद्देश्य अनावश्यक जटिलताओं में उलझने के बजाय प्राकृतिक न्याय-भावना के आधार पर निर्णय देना था। विवादों के निपटारे में यह देखा जाता था कि अभियुक्त का पूर्व आचरण कैसा रहा है, उसने अपराध स्वीकार किया है या नहीं, वह प्रश्नों का

उत्तर सरलता से दे रहा है या नहीं, प्रमाण पूरे रूप में प्रस्तुत कर रहा है या नहीं तथा उसने शपथ ली है या नहीं।

न्यायालयों में शपथ लेने की परंपरा विशेष महत्त्व रखती थी। वादी-प्रतिवादी तथा साक्षी शपथ सहित अपने कथन देते थे। इसके साथ-साथ गुप्तचर विभाग की जाँच-रिपोर्टों को भी निर्णय में विशेष महत्त्व दिया जाता था। न्यायाधीशों की निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए कौटिल्य ने गुप्तचरों की नियुक्ति की व्यवस्था की थी। यदि कोई गुप्तचर न्यायाधीश को रिश्वत का प्रस्ताव देकर उसकी स्वीकृति सिद्ध कर देता था, तो उस न्यायाधीश को तुरंत पद से हटा देने का निर्देश था।

न्याय-व्यवस्था से संबंधित ये तथ्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में न्यायालय सुव्यवस्थित थे, उनमें निश्चित प्रक्रिया का पालन होता था और कानूनों के उल्लंघन पर सुनिश्चित दण्ड का विधान था। वैदिक संहिताओं में जिन न्याय-सिद्धांतों का बीज रूप में उल्लेख मिलता है, उनका क्रमिक विकास ब्राह्मण, स्मृति और कौटिल्यकाल तक पहुँचकर पूर्णतः सुव्यवस्थित हो गया था। इस प्रकार समाज, व्यक्ति, राज्य और राष्ट्र के परस्पर संबंधों के साथ-साथ विधि और न्याय-व्यवस्था का भी निरंतर और सुदृढ़ विकास हुआ।

सारतः प्राचीन भारत में न्याय-व्यवस्था राजा और न्यायाधिकरण के नेतृत्व में विकसित हुई। राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था और अंतिम अपील उसी तक जाती थी। वैदिक युग में राजा स्वयं विवाद निपटाता या सोम-वरुण जैसे अधिकारियों के माध्यम से निर्णय करता। चोरी, हिंसा, दुर्वचन, स्त्रीधन, उत्तराधिकार जैसे मामलों पर दण्ड निर्धारित था। वादों की प्रक्रिया चार चरणों—पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, क्रियापाद और निर्णय—में होती थी। प्रतिवाद सत्य, मिथ्या, प्रत्यवस्कन्दन या पूर्वन्यायविधि प्रकार का हो सकता था। प्रमाण मानवीय (साक्षी, लिखित, भुक्ति) और दैवी (अग्नि, जल, तुला, शपथ) के रूप में लिया जाता था। न्यायाधीश निष्पक्ष होते और रिश्वत स्वीकार नहीं करते थे; गुप्तचर इसकी निगरानी करते थे। उत्तराधिकार के नियमों में पुत्रहीन व्यक्ति की संपत्ति पहले विधवा, फिर कुमारी कन्या, पुत्री, माता-पिता आदि को मिलती थी। कौटिल्यकाल में न्यायाधिकरण सुव्यवस्थित और स्तरवार स्थापित थे।

निष्कर्षतः प्राचीन भारत में न्याय-व्यवस्था व्यवस्थित, निष्पक्ष और सुधारात्मक थी। राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था, न्यायाधिकरण और धर्मस्थ कानूनों के पालन में कार्य करते थे। अपराधों पर दण्ड विधिसम्मत था और विवादों का निपटारा प्रमाण, शपथ और मध्यस्थ के माध्यम से होता था।

☆☆☆